

मूलशाङ्कर-नाट्यत्रयी

संयोगितास्वयंवरम्
छत्रपतिसाम्राज्यम्
प्रतापविजयम्

सम्पादकः

राजेन्द्रः नाणावटी



राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थानम्
मानितविश्वविद्यालयः
नवदेहली

प्रकाशकः

कुलसचिव

राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थानम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

५६-५७, इन्स्टीट्यूशनल एरिया

जनकपुरी, नवदेहली-११००५८

e-mail : rsk@nda.vsnl.net.in

website : www.sanskrit.nic.in

© राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थानम्

ISBN : 978-81-86111-30-7

संस्करणम् : २०१०

मूल्यम् २००/-रु०

मुद्रकः

अमर प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-११०००९

दूरभाषः- ९८७१६९९५६५, ९८९१७०९२१७

e-mail-amarprintingpress@gmail.com

पुरोवाक्

१८८६ तमे वर्षे गुर्जरप्रदेशे लब्धजन्मना, स्वपाण्डित्यमहिम्ना बडौदामहाराज-प्रभृतिभिः सम्मानितेन, महर्षेररविन्दस्य समकालिकेन संस्कृतविदुषा आ. मूलशङ्करमाणिकलालयाज्ञिकेन रचितं संस्कृतनाट्यत्रयम् अधुना एकस्मिन् सम्पुटे राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानेन प्रकाशपथमानीयत इति प्रमुदितं भवति मदनतरङ्गम्।

ग्रन्थेऽस्मिन् मुद्रिते नाट्यत्रये प्रथमं 'संयोगितास्वयंवरम्' देहलीनरेशस्य पृथ्वीराजनामकस्य, कनौजराजपुत्र्याः संयोगितायाश्च प्रणयकथानकं प्रस्तौति। सप्तभिरङ्कैः निबद्धमिदं नाटकं सुखान्तमस्ति। यद्यपि प्रसिद्धायामैतिहासिककथायां पृथ्वीराजस्य दुःखान्तं जीवितचरितं वर्णितमुपलभ्यते तथापि मूलशङ्करमहोदयेनात्र सुखात्मकघट्टे नाटककथा पर्यवसिता। वर्णसङ्घटन-पदचयन-भावनिर्माण-प्रसङ्गयोजनादि-दृष्ट्या नाटकस्यास्य अस्ति स्वीयं वैशिष्ट्यम्।

नाट्यकर्तुरपरा कृतिः छत्रपतिसाम्राज्यम् नवसु अङ्केषु स्वातन्त्र्यप्रियेण छत्रपतिशिवाजीमहाराजेन धर्मसाम्राज्यस्थापनाय कृतान् सङ्घर्षान् वर्णयति। युद्धप्रसङ्गभूयिष्ठमिदं नाट्यम् यवनशासनस्य दौष्ट्येन, तदानीन्तनस्वार्थिक्षत्रियाणां क्षुद्रव्यवहारेण च खिन्नस्य शिवाजेः राष्ट्राभिमानसम्भरितां कर्मठतां मार्मिकतया प्रस्तौति।

मूलशङ्करवर्यस्य तृतीया रचना प्रतापविजयम्। अत्र हि मातृभुवं प्रति श्रद्धया स्वाभिमानधनेन महाराणाप्रतापसिंहेन कृतः स्वातन्त्र्यनिमित्तकः सङ्ग्रामः वर्णितः।

आ. मूलशङ्करमहोदयस्य एतन्नाट्यत्रितयमपि सुखान्तमस्ति। त्रिषु अपि नाट्येषु घटनाः उत्सवे परिणमन्ते। संयोगितास्वयंवरे पृथ्वीराज-संयोगितयोः विवाहोत्सवं यावत् कथा प्रस्तुता। छत्रपतिसाम्राज्ये धर्मसाम्राज्याभिषेकोत्सवं यावत् प्रसङ्गो वर्तते। प्रतापविजयं तु महाराणाप्रतापस्य उदयपुरविजयोत्सवेन पूर्णतामेति।

मूलशङ्करमहोदयस्य नाट्यकृतिषु स्त्रीपात्राणामपि सम्भाषणानि संस्कृतेनैव निबद्धानि। एतासु कृतिषु बहुत्र शास्त्रीयशैल्या गानानुकूलानि पद्यानि (गेयपद्यानि) अपि वर्तन्त इति अपरं वैशिष्ट्यमवलोक्यते।

ऐतिहासिककथाबीजमवलम्ब्य मूलशङ्करमहोदयेन रचितानि इमानि त्रीणि नाट्यरत्नानि पृथक्-पृथग्रूपेण बहुपूर्वं प्रकाशितान्यपि पुनः सुष्ठु सम्पाद्य ग्रन्थरूपेण सज्जीकृत्य राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानद्वारा प्रकाशनाय आचार्येण राजेन्द्रनाणावटीमहोदयेन प्रस्तुतानि। बहुशास्त्रविशारदेन मूलशङ्करवर्यस्य सहाध्यापकेन पं. श्रीधरलक्ष्मणशास्त्रिणा मूलशङ्करकृतनाट्यत्रयस्यापि टीकाः विरचिता आसन्। ताभ्यष्टीकाभ्यः पर्यायात्मकांशान् विहाय छन्दोऽलङ्कार-सन्धि-सन्ध्यङ्ग-प्रसङ्गनिर्देशादीनंशान् स्वीकृत्य मूलकृतिना सह सम्पादकेन व्यवस्थितरीत्या संयोजिताः। तादृशोऽयं ग्रन्थः मूललेखकस्य १२५ तमायां जन्मतिथौ संस्थानेन प्रकाशयत इति नितान्तं हर्षमनुभवामि।

सन्दर्भेऽस्मिन् मूललेखकः आ. मूलशङ्करमहोदयः सश्रद्धं स्मर्यते। ग्रन्थ-सम्पादकं, प्रकाशनकर्मणि सहकृतवतः सर्वानपि हार्दमभिनन्दामि। ग्रन्थोऽयं संस्कृतनाट्य-साहित्ये दृष्टिमतां, विदुषां, छात्राणाम् अनुसन्धातृणां चोपकाराय भवेदित्यभिप्रैमि।

—राधावल्लभत्रिपाठी

डाह्याभाई शास्त्री, आ० निरुल्ला, प्रो. हसित मेहता ने भी योगदान दिया है। कुछ अन्य कार्यो में आ० प्रो. आर. सी. मेहता, श्रीमती मन्दा हिंगुराव, प्रो. मुकुन्द वाडेकर, प्रो. हरीश व्यास ने सहयोग किया - इन सबके प्रति मैं हार्दिक धन्यवाद समर्पित करता हूँ।

वडोदरा, दि. १३ जन० २०१०

- राजेन्द्र नाणावटी

सम्पादकीय

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के कुलपति प्रो. राधावल्लभजी के समक्ष मैंने अर्वाचीन संस्कृत रचनाकारों की कुछ प्रशिष्ट कृतियों के संपादन एवं पुनर्मुद्रण का सुझाव रखा तो तुरन्त उन्होंने गुजरात के सर्वमान्य नाट्यकार आ० मूलशंकर माणेकलाल याज्ञिक के तीन नाटकों के सम्पादन का उत्तरदायित्व मुझ पर ही डाल दिया । मेरा ही सुझाव था, ना भी कैसे करता ? स्वीकार किया, यथाशक्ति पूरा हो रहा है । इस कार्य का पूर्ण होना भी उन्हीं के आग्रह के आभारी है ।

संयोगवश मूलशंकरजी का जन्मदिनांक ३१ जनवरी १८८६ है; अतः ३१ जनवरी २०१० के दिन इनकी १२५वीं जन्मतिथि भी पड़ती है । उसी दिन इस **मूलशंकरनाट्यत्रयी** के ग्रन्थ के लोकार्पण का सुयोग भी अवसरप्राप्त बन गया है। इसके लिये तो केवल भगवती भवितव्यता के प्रति ही आभार प्रकट करना होगा ।

व्यक्ति को परखने की एक अत्यंत विशिष्ट शक्ति वडोदरा के गुणज्ञ पुण्यश्लोक महाराजा कै० सयाजीराव (तीसरे) में थी । उन्होंने ही राजा रविवर्मा जैसे चित्रकार, उस्ताद फैयाज़ख़ाँ जैसे गायक, श्री अरविन्द जैसे अंग्रेजी के प्रोफेसर, मणिलाल नभुभाई और चीमनलाल दलाल जैसे भाषाविदों को वडोदरा की राजकीय शिक्षासंस्थाओं में निमन्त्रित किया था । ऐसे तारकों में एक आ० मूलशंकर याज्ञिक भी थे । इनका वडोदरा के शैक्षिक एवं विद्वज्जगत् में निमन्त्रित होना एवं प्रथमतः ही नवप्रारब्ध शासकीय पाठशाला के प्राचार्यपद पर नियुक्त होना अपने आपमें उनकी असाधारण विद्वत्ता का प्रमाण है ।

मूलशंकरनाट्यत्रयी के इस द्विविध अवसर में कई लोगों का सहकार प्राप्त हुआ है । संस्थान के कुलपति प्रो. राधावल्लभजी ने यह संपादन करवाया। मूलशंकरजी के जीवन के विषय में मुद्रिकाबहन, मनीषाबहन, कैवल्य दवे ने सहकार किया और रचना को सुलभ कराने में आ० कुलीनचन्द्र याज्ञिक, कुलपति प्रो. पंकज जानी, आ०

अनुक्रम

पुरोवाक्	iii
सम्पादकीय	v
अनुक्रम	vii
प्रस्तावना	ix
आ० मूलशंकर माणेकलाल याज्ञिक	xxv
पं० श्रीधर लक्ष्मण शास्त्री	xxix
from Author's Introduction	xxx
Some Opinions	xxxix

नाट्यत्रयी

संयोगितास्वयंवरम्	१-८७
छत्रपतिसाम्राज्यम्	८९-१८९
प्रतापविजयम्	१९१-२८४

प्रस्तावना

बीसवी शती के पूर्वार्द्ध में भारत में जो प्रशिष्ट संस्कृत साहित्यकार हुए उनमें मूलशंकर माणेकलाल याज्ञिक अन्यतम हैं, समकालिक गुजरात के तो वे अनन्यतम रचनाकार रहे। हमारे कुछ प्राचीन प्रशिष्ट संस्कृत नाट्यकारों की तरह इनका कवियश भी इनकी तीन नाट्यरचनाओं पर ही प्रतिष्ठित है। ये तीन रचनाएँ हैं *संयोगितास्वयंवरम्* (प्रथम प्रकाशन सा.सं. १९२८), *छत्रपतिसाम्राज्यम्* (१९२९) और *प्रतापविजयम्* (१९३१)। इन तीनों नाटकों में मूलशंकरजी की रचनाकला के जो उन्मेष प्रकट हुए उन्होंने अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में उनके प्रदान को चिरकालीन बना दिया, उनके यश को भारत में और संस्कृतप्रेमी विश्व में फैलाया और संस्कृत साहित्य में उनका स्थान निश्चित कर दिया।

पहले ही नाटक *संयोगितास्वयंवरम्* से उनकी कविताकला ने विद्वान् सहृदयों की प्रशंसा प्राप्त कर ली थी। नाटक का कथानक तो विख्यात है – राजकुमारी संयोगिता और दिल्लीनरेश पृथ्वीराज की इतिहासप्रसिद्ध प्रणयकथा। कनौज के राजा जयचन्द ने पुत्री संयोगिता का स्वयंवर रचा और उसमें उसके प्रियतम पृथ्वीराज को ही निमन्त्रण नहीं दिया तब पृथ्वीराज ने छद्मवेश में आकर स्वयंवरमण्डप से ही राजकुमारी का अपहरण कर लिया था। नाट्यकार मूलशंकर ने इस कथानक को कुछ भिन्न रूप में नाटक में प्रस्तुत किया है। यहाँ जयचन्द ने राजसूय यज्ञ का समायोजन किया है जो केवल चक्रवर्ती राजाओं के लिये करणीय हैं, और जयचन्द अभी चक्रवर्ती है नहीं। पृथ्वीराज इसलिये यज्ञ का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता और जयचन्द का शत्रु बन जाता है। यज्ञ के अनुषङ्गमें ही जयचन्द राजकुमारी संयोगिता का स्वयंवर भी कर देना चाहता है। पर राजकुमारी इन दिनों 'निरुत्सवा' दिखाई पडती है। उसकी उदासीनता का कारण जानने हेतु जयचन्द वसन्तोत्सव का आदेश देता है (अंक १)। योजनानुसार ही वसन्तोत्सव के उल्लासपूर्ण वातावरण में संयोगिता अपनी सखी के सामने पृथ्वीराज के प्रति अपने उत्कट प्रणय का मनोगत प्रकट करती है जो रानी गुप्त रूप में सुन लेती है। रानी समझाने का प्रयास करती है, पर संयोगिता अपने निश्चय में दृढ़ है। परिणामतः

उसे गंगा के किनारे कनौज नगर से कुछ दूर एकान्त महल में निर्वासन का आदेश होता है (अंक २)। पृथ्वीराज की एक पूर्वसेविका कर्णाटकी अब संयोगिता की अंतरंग सेविका है। उसके पत्र के साथ संयोगिता का प्रेमपत्र पृथ्वीराज को मिलता है। वह तुरन्त उसके हरण के विचार से अपने मित्र राजकवि चन्द के परिचारक गण में छन्नरूप में सम्मिलित होकर कनौज जाने की योजना बनाता है (अंक ३)। कनौज में जयचन्द की राजसभा में चन्द कवि का स्वागत होता है। छन्नवेषी पृथ्वीराज की उपस्थिति शंका तो प्रेरित करती है, पर अनिर्णय की स्थिति बनी रहती है। चन्द कवि के निवास पर कर्णाटकी आदि सखियां कविसत्कार के लिये आती हैं। पृथ्वीराज को प्रियतमा के निर्वासन-निवास का पता मिल जाता है। रात में ही वह निकल पडता है (अंक ४); और प्रियतमा के महल तक पहुंच कर कर्णाटकी की सतर्क सहायता से प्रविष्ट होकर विरहसंतप्त प्रियतमा से गान्धर्वविवाह कर लेता है (अंक ५)। फिर दूसरे दिन पूरी योजना के साथ आकर प्रियतमा को सखियों से बिदा करा ले जाता है (अंक ६)। दिल्ली पहुंचकर विवाहोत्सव होता है तो उसमें जयचन्द भी अपने विरोधको त्याग कर सौहार्दसंबंध के प्रस्ताव के साथ उपस्थित रहता है। सार्वत्रिक आनंद के वातावरण में राजसी विवाहोत्सव संपन्न होता है (अंक ७)।

सात अंक का यह नाटक हमारे पारंपरिक प्रशिष्ट संस्कृत नाटक के सभी लक्षणों का प्रायः यथातथ अनुसरण करता है। संस्कृत नाटक सुखान्त होना चाहिये। जब कि पृथ्वीराज के वृत्तको ख्यात करनेवाला राजकवि चन्द बरदायी का *पृथ्वीराजरासो* तो – संयोगिता के प्रणयरससर में डूबे हुए असावध पृथ्वीराज को यवन शाहबुद्दीन घोरी पराजित करता है, कैद करता है, अन्ध बनाता है, और उसके शरानुसंधान की अमोधवेधिता का परीक्षण करने में स्वयं भी मरता है – वहां तक कथानक को ले जाता है। नाटक को संस्कृत परंपरा के अनुरूप सुखान्त बनाने के लिये नाट्यकार ने कथानक के उस अप्रिय अंश को छोड़ दिया है और प्रेमियों के विवाहोत्सव में ही संपन्न होनेवाला सुखान्तक कथांश ही लिया है। इतना ही नहीं, सुखान्त को अधिक प्रतीतिकारक एवं संभवतः चिरस्थायी बनाने के लिये जयचन्द की प्रकृति में भी परिवर्तन किया है। नाटक में पृथ्वीराज के साथ जयचन्द का विरोध कट्टर नहीं है, केवल प्रसंगोत्पन्न है। व्यक्तिमात्र में स्वाभाविक ऐसी लोकैषणा से प्रेरित होकर जयचन्द चक्रवर्तित्व के लिये अपेक्षित पूर्णता न होते हुए भी राजसूय का उपक्रम कर देता है पर पृथ्वीराज के विरोध और यज्ञ में निमन्त्रण के अस्वीकार के औचित्य को वह भी समझता है। राजसूय का आनुषङ्गिक स्वयंवर भी वह नहीं करता है, केवल पृथ्वीराज के अस्वीकार से तत्काल

उत्पन्न क्रोध के कारण संयोगिता को एकान्तवास दे देता है, उसे स्वयंवर के लिये बाध्य नहीं करता। इतना ही नहीं, पृथ्वीराज जब संयोगिता का अपहरण कर ले जाता है तब उसके विवाहोत्सव में अपनी कन्याप्रदान की संमति के साथ उपस्थित भी रहता है। इस प्रकार विवाहोत्सव के आनंद में कन्या के पिता के विरोध की कलुषता भी दूर हो जाती है।

नाटक के शीर्षक में जो 'स्वयंवर' शब्द का प्रयोग हुआ है उसकी सार्थकता को भी इसी दृष्टि से परखना होगा। 'स्वयंवर' शब्द के प्रयोग के औचित्य के विषय में शंका उठाई गई है। * 'स्वयंवर' शब्द का जो प्रसिद्ध अर्थ है, स्वयंवर का जो परंपराप्राप्त विधि है - जिसमें राजकन्या के पतिवरणहेतु राजाओं-राजकुमारों को एकत्र निमन्त्रित किया जाता है - वह तो इस नाटक में है ही नहीं। प्रत्युत यहां तो कन्या का हरण होता है। पर ध्यातव्य है कि यह हरण कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के हरण की तरह राजकुमारी संयोगिता की इच्छा के अनुसार हुआ है। 'स्वयंवर' का यही अर्थ नाट्यकार को यहां अभिप्रेत है। स्वयंवर का निर्देश तो प्रथम अंक में ही हो जाता है और जैसे टीकाकार ने बताया है (पृ. १२) यह निर्देश ही कथानक का बीज और मुख सन्धि का आरम्भ है। पर संयोगिता का स्वयंवरत्व कुछ भिन्न-विशिष्ट रूप में प्रगट हुआ। उसका निरुत्सवत्व, निरुत्सवत्व का कारण पिता को अवगत होना, पिता का पृथ्वीराज के प्रति क्रोधित होते हुए भी कट्टर न होना - इन कारणों से प्रत्यक्ष स्वयंवर हो ही नहीं पाया, स्वयंवर की घटना कुछ भिन्न रूप से ही घटी। जयचन्द के ही मुख में नाट्यकार ने सातवे अंक में यह उद्गार रखा है।

मिथोऽनुरागाभ्युदयप्रहर्षितः स्वयंवरां मे तनयां समर्प्य ।

सम्राट् स्वयं विक्रमशालिने ते कृतार्थतामद्य गतोऽस्मि सान्वयः ॥
(सं.स्व.७.१३)

दोनों के मिथः अनुराग को पिता ने स्वीकार किया, प्रेमी पति का स्वयं वरण करने वाली पुत्री का कन्याप्रदान किया, और राजसूय में चक्रवर्तित्व के विवाद और तज्जन्य मनोदुःख को समाप्त करते हुए जामाता को 'सम्राट्' संबोधन भी कर दिया। सम्राट् बनने हेतु राजसूय का आरंभ तो स्वयं किया, पर अन्त में वह पद जामाता को ही प्राप्त करा दिया। जयचन्द का यह समाधान ऐतिहासिक चाहे न हो, समकालिक समाज

* द्रष्टव्यः Prajapati Sweta, *The Title of Samyogitasvayamvaram: A Problem*, JOIB, Vol. XLIII, No. 3-4, 1994, pp. 223-238.

की स्वयंवरिणी कन्या के पिता के स्नेहसिक्त क्षमाशील पितृभाव को तो प्रकट करता है।

इस सूक्ष्म समंजसता के कारण नाट्यकथानक को भी गोपुच्छाग्र एकाग्र संवादिता प्राप्त होती है। वर्णसंघटना का एक सहज लय, पदचयन की प्रयोजक प्रासादिकता, पदशय्या का एक प्रकार का अनाक्रमक प्रशिष्ट गौरव - रचनाशैली के इन लक्षणों से तो मूलशंकरजी का समग्र लेखन व्याप्त है। नाटक की प्रसंगयोजना-अंकयोजना भी सरल गति से प्रवाहित होती है। कार्यवेग भी - न मन्द, न तेज - प्रसन्न रुचितर्पक गति से बहता है। पात्रालेखन-भावनिरूपण भी प्रशिष्ट सहृदयों को मनोनुकूल और रुचितर्पक बन पड़ा है। कुल मिलाकर संयोगिता-पृथ्वीराज की अत्यंत परिचित प्रणयकथा का यह एक प्रसन्नकर नाट्यरूप सिद्ध हुआ है।

संयोगितास्वयंवरम् का वातावरण रूमानी प्रणयकथा का है तो *छत्रपतिसाम्राज्यम्* का वातावरण नितान्त संघर्षमय कर्मशीलता का है। बीसवीं शती के दूसरे चरण में जब हमारा दूसरा स्वातंत्र्यसंग्राम गतिमान् हो गया था ऐसे समय में शिवाजी जैसे स्वातन्त्र्यवीर लोकनेता के जीवनचरित का स्मरण अत्यंत कालोचित था और उसका अर्वाचीन संस्कृत के सृजनशील साहित्य में यह निरूपण कदाचित् सर्वप्रथम है। नाटक के आरंभ में शिवराज और उसके मित्र एसाजी, तानाजी, बाजी इत्यादि यवनशासकों की नीतिरहित निर्घृण दुष्टता और मूर्ख क्षत्रियों की मिथोविद्वेष के कारण दासतावाली देश की परिस्थिति से चिंतित और व्यग्र हैं। शिवराज के मन में विरोध क्रियाशील हो रहा है, तभी समाचार आते हैं की बहन को बहनोई के घर छोड़ने जा रहे नेताजी को मारकर बीजापुर के यवनसैनिकों ने बहन का अपहरण कर लिया। सुनते ही शिवराज हिन्दू धर्मराज्य की स्थापना का निश्चय कर लेता है, सभी मित्र और दादोजी देखमुख मरणान्तक साहाय्य का वचन देते हैं, दादाजी कोंडदेव राजनीति के कुछ मौल नियमों की सीख देते हैं, और कार्यसिद्धि के शकुन के रूप में तोरणादुर्ग का वृद्ध और तीर्थयात्रा का इच्छुक दुर्गपाल अपना दुर्ग शिवराज को सौंप देता है (अंक १)। शिवराज अब साम, दाम, दण्ड, भेद से चाकण, कोण्डने, पुरन्दर आदि किले जीत लेता है। नेताजी भी मरा नहीं था, पुनः संज्ञा पाकर वह यवनसेनानायक से राजदुर्ग छिनकर शिवराज को जा मिलता है। सह्याद्रि के मावळे वनवासियों को सैन्य में जोड़ना है पर उनके तालीम-वेतन के लिये धन नहीं। शिवराज आर्द्र भक्ति से माता भवानी की प्रार्थना करता है तो दैवी कृपा के रूप में उसी किले में गड़ा हुआ बहुमूल्य खजाना अचानक उसके हाथ लग जाता है (अंक २)। उसे भवानी तरवार की भेंट प्राप्त होती है। पराजित सेना के सैनिकों को और

सेनापति-किलेदारों को सन्मानपूर्वक वह छोड़ देता है। आबाजीने कल्याण प्रान्त जीत कर एक सुन्दर स्त्री का उपहार दिया तो शिवाजी घोषणा करता है कि परस्त्री तो उसके सेवकों के लिये भी पुत्री समान होगी। बीजापुर-सुलतान के सातसौ गान्धार सैनिक शिवराज की सेना में भर्ती हो जाते हैं। सुलतान शिवराज पर दबाव डालने के लिये उसके पिता को कैद करता है, तो शिवराज दिल्ली के मोगल बादशाह को पिता की मुक्ति की याचना के साथ सन्धिपत्र भेजता है, और राजमाता (जीजाजी) को घटनाक्रम से अवगत कराता है (अंक ३)। शिवराज की सहायता के लिये स्वामी रामदास ने भी युवानों में राष्ट्रभावना जगाने के उद्देश्य से सैंकड़ों मठ स्थापित किये हैं। बीजापुर-सुलतान का सेनापति अफज़लखाँ दूत भेजता है - 'क्यों दोनों ओर के सैनिकों को मरवायें, कभी अकेले बैठकर सुलह कर लेते हैं'। पर शिवाजी दूत से गूढाशय जान लेता है - अकेले में मारने की योजना है। वह योजनापूर्वक एकान्त शिबिका में मिलता है और व्याघ्रनख से अफज़ल को चीर डालता है (अंक ४)। बाजीराव अपने प्राण देकर यवनसेना के मार्ग को रोकता है और शिवराज को क्षेमकुशल विशालगड में पहुंचा देता है (अंक ५)। गुप्तचर बताता है कि दिल्ली पादशाह ने शिवराज को पकड़ लाने के लिये जिस दक्खन के सूबे को आदेश दिया है वह पूना में शिवराज के महल में नाचगान में गुलतान है। शिवराज अपने सेवक की विवाहयात्रा में छत्रवेश में जाकर उसे मारने की योजना बनाता है (अंक ६)। बादशाह औरंगज़ेब की ओर से अंबर का महाराजा जयसिंह किसी प्रकार शिवराज को सन्धि के लिये मनवाकर दिल्ली-दरबार में भेजता है (अंक ७)। दिल्ली दरबार में औरंगज़ेब शिवराज को नीचा आसन देकर अपमानित करता है और उसे उसके निवास में नजरकैद करता है। शिवराज सावधानी से पूर्वयोजनानुसार फलों के टोकरे में छिपकर निकल जाता है (अंक ८)। फिर यतिवेश में आकर माता के समक्ष प्रगट होता है। इस बीच उसके मन्त्री ने बहुत सारे किले वापस जीत लिये हैं। सिंहगढ को जीतने के लिये स्वयं तानाजी जाता है (अंक ९), पर किला जीतने में उसके प्राण की आहुति चढ़ जाती है। इस विषाद की पश्चाद्भूमिका में छत्रपति महाराज शिवराज का राज्याभिषेक होता है और मराठा साम्राज्य की विधिवत् स्थापना होती है (अंक १०)।

छत्रपतिसाम्राज्यम् घटनाबहुल नाटक है। महाराज शिवराज के जीवन की कई सारी घटनाओं को यहां निरूपित किया गया है। *संयोगिता* जैसी काल और कार्य की एकता यहां नहीं है। ये घटनाएँ शिवाजी के जीवन के प्रायः तीन दशकों के कालखंड में फैली हैं। धर्मराज्य की स्थापना का निश्चय १६४५-६ में हुआ होगा, पिता

शाहजी का कारावास १६४८-१६४९ से १६५६ तक रहा, अफज़लखान का वध १६५९ में किया गया, जयसिंह-शिवराज का मिलना १६६५ में हुआ, औरंगज़ेब के दरबार में पेशगी, नज़रकैद और आत्ममोचन १६६६ (मई से अगस्त) में, पुनरागमन नवम्बर में, चौथ-वसूली का अधिकार १६७२ में और साम्राज्याभिषेक १६७४ में हुआ।

इतने विशाल कालखण्ड में फैले, वैविध्यपूर्ण घटनाओं से संकुल एवं निरन्तर स्वातन्त्र्यसंघर्षमय जीवन में से परस्पर असंबद्ध घटनाओं को इस प्रकार चुनना कि इनका कालक्रम भी बना रहे और इनमें कार्यकारणसंबंध की गन्धर्वनगरलेखा भी दिखती रहे - ऐसा संशोधनात्मक नाट्यसंविधानकर्म रचनाकार के प्रगाढ अभ्यास एवं पैनी संयोजक दृष्टि के बिना असंभव था। यवनों के नय-नीतिरहित निर्घृण एवं कुटिल अत्याचारों से क्रुद्ध होकर शिवराज धर्मराज्य की स्थापना का निश्चय करता है (अंक १), और मानुषी (१) दैवी (२) एवं आत्मिक चारित्र्यबल (३) की सहायता से अपना प्रभाव फैलाने लगता है। उसे रोकने के लिये बीजापुर-सुलतान ने नायक के पिता को कैद किया तो नायक दिल्ली-बादशाह के साथ सन्धि में उसका उपाय खोजता है (३)। सुलतान का सेनापति अगर इसे समझौते के छल से मारना चाहता है तो नायक दूतरहस्यभेद करके प्रतिछल से सेनापति को ही मार देता है (४) और निष्ठावान् मित्र-सेवक की प्राणाहुति का मूल्य चुका कर किले में सुरक्षित पहुंचता है (५)। इससे सावधान होकर इस सह्यमूषक को पकड़ने के लिये बादशाह ने यदि दक्खन के सूबे को भेजा तो छलप्रबन्ध से नायक उसे भी मात दे देता है (६)। अब निरुपाय बादशाह जयसिंह के माध्यम से नायक से सन्धि करवाता है (७)। इसके बाद भी अगर बादशाह नायक का अपमान और नज़रकैद करता है तो नायक करण्डकपट से मुक्त होकर (८) अपना साम्राज्याभिषेक करा देता है (१०)। सुलतान और बादशाह जैसे दो प्रबल खलनायकों के सभी छल-बल को वैसी ही कुटिल चालों से अपास्त करके शिवराज धर्मराज्यसंस्थापन का अपना निश्चय सिद्ध करता है। पूरे नाटक में व्याप्त इसी संविधानसूत्र से नाट्यकार ने इन विशृंखल घटनाओं में कार्य की एकता को सिद्ध किया है। नाट्यकार की नाट्यसंविधानकला की यह एक महती उपलब्धि है।

एक प्रकार से इसे चरित्रप्रधान नाटक भी कह सकते हैं। शिवराज के पात्र का निरूपण ही नाटक का प्रधान आशय है। शिवराज के पात्र की कई रेखाएँ उभरकर सामने आई हैं। यवनों की दुष्टता और क्षत्रियों की क्षुद्रता से शिवराज खिन्न है, तो

उसकी विचारशील कर्मठता स्वयं ही एसाजी, बाजी, नेताजी, तानाजी जैसे समर्पित मित्रों को आकर्षित करती है। भवानी में श्रद्धा है और भवानी तलवार की तरह तोरणा दुर्ग और गुप्त खजाने जैसी अनपेक्षित दिव्य सहाय का पात्र भी बनता है। प्रियातिप्रिय मित्रों को बड़े दुःख से स्वातन्त्र्ययज्ञ में प्राणों की आहुति देते देखना पड़ता है। सुंदर स्त्री को देखकर प्रजाधर्म का विस्मरण नहीं होता। सुलतान के सैनिक शिवराज की सेना में प्रवेश चाहते हैं तो उसका विचार है - *समदृष्ट्यधीनैव साम्राज्यप्रतिष्ठा*। यवनों की दुष्टता और क्षत्रियों की क्षुद्रता दोनों को वह देखता है और समझता है कि *स्वप्रजानिर्विशेषं प्रजानां परिपालनमेव सर्वत्र राज्ञां परमो धर्मः*। इसीलिये स्वामी अगर नृपापसद है तो ऐसे भर्ता का विप्रकार और धर्मपरक भूभृत् का अविरोध - प्रत्युत साहाय्य - ही धर्मानुकूल है ऐसा वह ब्राह्मण दूत को समझा भी सकता है। शठं प्रति शाठ्यम् और छलाश्रयी शत्रु का कपटाश्रय से ही निराकरण वह करता है। किंबहुना, भगवान् कृष्ण की तरह वह भी समझता है कि धर्म परंपराप्राप्त और केवल ऊपरी आचारविधान में नहीं, उसके मूल आशय की रक्षा करनेवाले प्रसंगानुकूल व्यवहार के आचरण में निहित है। आचार की परंपरा नहीं, लोकहित की रक्षा ही धर्म है। क्षत्रिय का धर्म समझता है, पर गुरु रामदास के समक्ष निर्वेद प्रकट हो ही जाता है- *भगवन् अथ मया यावज्जीवं किमेवमेव हिंसाप्रधानो धर्मोऽनुष्ठेयः* (१.२ से पूर्व)। धन के अभाव में साधनविकलता से विषण्ण है तब मित्र नेताजी के पास मन की गहरी बात खुल ही जाती है। 'हे वीराग्रसर, तुझे ही सारी राष्ट्रोद्धार की प्रवृत्ति को सौंपकर मैं तो हाथ में दण्डकमण्डलु लेकर, सब छोड़छाड़कर, परब्रह्मनिष्ठ परिव्राजक बन जाऊँगा' (२.५)। क्षत्रिय के स्वधर्मनिष्ठ आचरण के पीछे भी एक गहन विरक्ति का भाव - यही शिवराज के पात्र की मूल रेखा है।

छत्र०नाटक का एक दूसरा पक्ष भी ध्यान देने योग्य और महत्त्वपूर्ण है। शिवराज के स्वातन्त्र्यसंग्राम के कुछ आयाम यहां उजागर होते हैं। शिवराज के क्रोध एवं साम्राज्यस्थापननिश्चय का कारण उसकी वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा नहीं है, यवनों के निर्घृण, नीतिरहित और कुटिल अत्याचारों ने उसके क्रोध को जगाकर धर्मराज्यस्थापना के निश्चय को प्रेरित किया है। यवनों के अत्याचारों ने सभी मर्यादाएँ लांघ दी है।

धर्मध्वंसवृत्तान् परधने लुब्धान् मृदौ निर्दयान्

मन्दान् विक्रमशालिनि प्रतिभटे कूटप्रयोगोत्कटान् ।

*विश्वस्तेऽपि च हिंसकान् कुलवधूसंकर्षणे सोत्सवान्
गोविप्रेष्वपचारिणः कथमिमान् देवद्विषः संश्रये ॥ (१.२४)*

दूसरी ओर क्षत्रियों का प्रतिव्यवहार कैसा है ?

परस्परान्मूलनसंप्रवृत्तान्

विहाय धर्म विषयेषु सक्तान् ।

नित्यं प्रजास्वापहरानृपालान् ... (१.६)

तीसरी ओर स्वामिनिष्ठा के किस आदर्श का हमारी विप्रादि प्रजा अनुपालन करती है ? *स्वधर्मनिष्ठानामपि भर्तुरनिष्ठापादनेन त्वपरिहार्य एव कृतघ्नतादोषः । (४.१४ के पश्चात्)*

धर्मनिष्ठा के ऐसे व्यामोह से भ्रमित हिन्दू प्रजा जब अधर्मनिष्ठ यवनों की संनिष्ठ सेवा करती रहेगी तो परिणाम क्या होगा ?

भवन्ति विप्रा यदि धर्ममूर्तयो

विरोधिनो धर्मपरस्य भूभृतः ।

तदा प्ररोहैः सह धर्मपादपः

समूलमुच्छेदमवाप्नुयाद् ध्रुवम् ॥ (४.१६)

हमारे देश की दुर्दशा का एक महत्त्वपूर्ण कारण ऐसी भ्रमित धर्मदृष्टि एवं तज्जन्य व्यवहाराचार भी है। परंपरागत धर्मदृष्टि और संनिष्ठ धर्माचरण की ऐसी सूक्ष्म विचारणा इस नाटक में कुछ स्थानों पर हुई है जिससे इस नाटक को एक विशिष्ट वैचारिक-दार्शनिक आयाम प्राप्त होता है। ध्यातव्य है कि ऐसे विमर्श यहां कभी दीर्घ या निर्वेदकारक न बनकर नायक के प्रसंगप्राप्त व्यवहारों की कर्तव्यता को वैचारिक पीठिका पर प्रतिष्ठित करते हैं।

छत्र०नाटक, संयोगिता० से बिल्कुल भिन्न प्रकार का नाटक है। संयोगिता० से इसका वातावरण नितान्त भिन्न है, पात्रविधान अत्यन्त भिन्न है, कथानकसंविधान एकदम भिन्न है। घटनाबहुल नाटक होने के कारण इसका कार्यवेग त्वरित है। प्रणय जैसे मधुर भावों को यहां अवकाश नहीं है, प्रत्युत यहां तो कुटिल राजनीति, दावपेच, छलबल आदि की प्रधानता है। इसका कुटिल राजनयिक प्रपंचोंवाला कथानक कुछ *मुद्राराक्षस* का स्मरण कराता है, तो इसका प्राञ्जल प्रशिष्ट भाषाविधान *मृच्छकटिक* की याद दिलाता है। संस्कृत रूपकप्रकारों की दृष्टि से देखें तो *संयोगिता०* का आस्वाद

AJa dh ` 0 _ | Zht {OH\$ gH\$VmVmanDàngnK H\$ gw` Arp Xul`H\$ aj U H\$no
 N\$H\$ na nd`r` O\$|brH\$ H\$`i` ≥` OrdZ H\$noñdrH\$na H\$avmh; na `dZ H\$nm
 _|DAmZht H\$admb`CgH\$ _|hfr Arp `|lanD `r Egr hr à~b ^mZmgOAnV`ànV
 h& `|lanD n`dranD H\$ -hZ H\$ àU` H\$noñdrH\$na Zht H\$avm& A_`n` `r
 AH\$-a H\$ CÈH\$MH\$ ànVnd H\$ de Zht hrv`m gndYnz hmOnVmh; & Bgr AUZ_
 ñdrnV\$` ào goaVrm ZoAnZr gmar OZnX Ed\$Zdngz àOmH\$ AMb ^{°\$ OrV
 br h; Arp Bgr àOm{°\$ H\$ ~b na dh AH\$-a H\$ ~Sx gZm à`y YZgm Jk
 Arp bà~oAagH\$ bñMrv `r KaoH\$ M ñdV\$ ah gH\$Vm; nd`r gond`r NnVn
 ahVmh; ~nXenH\$ngj` Zne gnaenZ H\$a gH\$Vm; Arp AagH\$ ~nK KamCRn
 bZOH\$no(dde H\$a gH\$Vm; & ànUñV XÈS>H\$ ^` H\$ gm_Zo`r CgH\$ àOm
 PH\$Vr Zht & (OgH\$ H\$V`D _|àVnmg h; EgrEH\$ AS>J (Z`O`nbnòñdrnVÍ` ^°\$
 ani >H\$ndrVndaU Bg nqozrH\$ _|gnVYV i` nà h&

ñdrnVÍ` ào H\$ Bg i` mH\$ nünX`y _|àVrm H\$noZ nH\$>gH\$Zoh\$
 H\$naU AH\$-a H\$ H\$ny H\$no`nDZ ~ZVoh` Arp `H\$nmrandra`, `H\$nmVna`,
 `gnd`m` Ogog\$nyZ H\$a H\$ PH\$H\$a VrZ ~na AH\$-a H\$ gm_Zo`|DAmH\$aVoh`
 _|nZogh Arp ^JdmZXng OgoanOnV`rH\$ XemA{VX` Zr` {XI n`h`S>r h; &

AH\$-a H\$ M|aI H\$ AANA`emH\$no`r {ZX}e {H\$` mJ` mh; & nqo`naV H\$
 àOmH\$ndh EH\$ gj` _|~nZmMnVmh; & Bgr{b` onañna H\$oh H\$aVoj {I`
 anOnArH\$ndh AnZon` H\$ ZrMobnzOH\$nbAN`H\$ h; & Bgr H\$naU godh ZB`
 anO`nfmcX`V; na H\$anH\$a nqoxe _|`|bnZmMnVmh; & n`dranD Ogoñri` dSVm
 j {I` H\$no`r CgZoAnZogm_YVJU _|gàhnbmh& AH\$-a O~ {Z`rD n`ZonVn
 h; V~ CgH\$ {hYXyanZr {ed`\$Xa OnVr h; - EgmY`ñdrnVÍ` `r {Zè\$`nV {H\$` m
 J` mh; & na H\$ni H\$om {H\$VZnrh`_hrz`S` rZ {XI o`_p` ~nV VmJ`re` H\$ h&
 AH\$-a H\$nbZ gnaAANA`H\$ni nH\$no`naAne` VmAnZdMH\$ed{VEd H\$no{G`O H\$aZo
 H\$ _h`idnH\$ng mhr h; &

Arp AH\$-a H\$naAne` Mino{H\$VZmhr`_hrz`S` rZ hmp CgH\$ {b`
 àVrm AnZon`ñdrnVÍ` H\$ AnbV` S` rXo?

N`OZrH\$H\$ VnoZm_|Bg ZrH\$H\$ H\$ni O`V`_YX h; H\$no>g\$ rJVmD
 Ogr & àVrm Arp CgH\$ _|p`I` rH\$ H\$ni {ZU` H\$ {d_e`_|anDZ` emó H\$ H\$no>

{g`O`V`noH\$ MMfag\$VnV h; na H\$ni O`V` na à`nd` `r S`abVr h; & AH\$-a H\$
 AnZofdMranH\$ A{^i` {°\$ H\$no`r Egmhr à`nd` nS`Vmh; &

n`dranD H\$ ^{JZr anDH`_mar`|lanD H\$ à{V AnH\$`i`>hnrV h; àU`
 i` °\$H\$aVr h; àVrm H\$ AZ`V`n rz dH\$nd` \$a` ng H\$aVr h; àVrm H\$ ñdrnVÍ`
 H\$NT>AnKe`H\$H\$naU Ag`\$o hnrV h; `|lanD H\$ AnengZ H\$ CnarV` `r ànU`
 H\$ndMna H\$aVr h; - BZ {Zin[aUm_r àU` H\$ KOZnag\$`rH\$no`naZr`eg\$gdYnz
 _|nVnH\$no H\$ è\$`n _|Xd mOmG\$H\$Vm; & Zr`eg\$H\$VnzH\$ _|`h CnH\$VnzH\$
 Zr`eg\$gdYnz H\$ ñ{r`>goMnoCnH\$naH\$ Z bJp na BggoñdrnVÍ` ^mZmH\$
 AnKe`H\$MH\$ n[a_nU Adi` àH\$>hnrVmh; & ñdrnVÍ` H\$no`h AnKe`BVZm
 H\$RZ h; {H\$ Bg ñdrnVÍ` `k_|gh` nV H\$aZonbo`|lanD-anDH`_mar Ogo
 gh` rU` rH\$no`r AnZr {ZOr ghO gw` n`_H\$ grgr`aH\$ ^mZnArH\$no~{bXnz
 XZmnS`m&_hr`_mJn`r H\$ ñdrnVÍ` g\$`m _|O`ZonboH\$B` nH\$`p` `nV` rZo
 AnZonZhg\$`rH\$no~{bXnz H\$a {X` mVn H\$B`Z`oVmaAnOrdZ ~M` O`V` JkU
 H\$a {b` mVn&ñdrnVÍ` H\$ {b` ogdñd H\$ ~{bXnz H\$ {denb n[aH\$enZm_|BZ
 ^mZnAr`dV`rH\$no`r g`nd`e hmOnVmh; & anDH`_mar H\$ {Zin[aUm_r àU` H\$no
 `h nVnH\$noVnzr` CnH\$VnzH\$ `r H\$no>Egr ^mZmH\$no ñdrnVÍ` g\$`m H\$ Jn`r-
 gE` nV H\$ H\$no>Egchr à`nd`rH\$naH\$>H\$aVmh; & ñdrnVÍ` H\$no`gmZm_|H\$db
 ^nVH\$ gw` rH\$ Zht, àU` Arp dn`gè` Ogr H\$B`^mZnArH\$no`r AnbV` XZr
 nS`Vr h; &

Bg ñ{r`>go_hr`_mJn`r H\$ H\$B`dMranH\$ à{VAN`n mBg_|Xd r Om
 gH\$Vr h; &

VrZrZrH\$H\$ ASJOr _|{bI r JB`añVndZm_|_be\$SaOr ZogH\$V
 Zr`H\$ H\$ ag-Zr`H\$-g\$gdYnzr`X bj UrH\$ndU` {H\$` mh; Arp AnZr aMZnAr
 |g`H\$V Zr`H\$ H\$ Cgr àrayn H\$nam` ..AZ`gaU {H\$` mh; & CZH\$na{ei`>d`m|
 nUrH\$ aMZmH\$aZm H\$VnzH\$H\$ngbVn`VH\$A\$`p`_|(na ñi` r_|Zht) {d`nDZ,
 ZnYr-gj`Yna-ZO`-JrV goàna\$`-añVndZm-àd`eH\$-{d`iH\$a`H\$ AnX H\$no
 à`nd`, gñ`_V`_à{d`i` -{ZiH\$no`Vn.Ogr a\$`g`mZr`±- g- H\$no>à{ei`>g`H\$V
 Zr`H\$ H\$ndrVndaU aMvch`&H\$no>g`_nz`n`b n[adV`B`Yhr`Z{H\$` o`r h`&Ogo

BZH6 g^r 6rmi g6HV ^rfmH\$hr à` n6 H\$aVohc&_ ~~AVH\$OH\$~~ OgoZr6H\$hr |
 dgYVgZmZoAndrK6\$nb H6V>g6hrK g6HV_ r6E` H\$ohr6ona {Z` _ goV6
 dgYVgZm Cd6r- dngdX6m- eH6V6b6- aEZ6br- grVmAn6X g^r 6rmi
 àn6HV_ |hr -nbVohc&na _pe6\$6Or Zog^r 6rmi6H\$ng6HV_ |hr -6dm6 m
 h; & Xgao Zr6H\$ H6 àE` 6\$ A6\$ _ |_ 6` n6 H6 6\$6n_ |Zm H\$` mZr6 H\$mH\$m
 hrZmC6YhrZoA(Zdm 6Zht _mZm& g\$ r6JVr6 H6 àW_ A6\$ _ |Z Zm H\$ h; Z
 Zr6 H\$m& hr6 O` MYX O6\$a h; Ar6 CgH\$mnm6 Jrad h_ à_ 6` n6 H6 OgmH\$6
 gH\$Vohc& àVr6O_ |H6V>Egm6r6H\$6>hr6mh; & H\$ àW_ X6A6\$6n6 |Zm H\$ àVr6g6h
 Cn6rWV h; (\\$a Vrgao_ |àVZm H\$ gm66r6 AH\$-a, (\\$a X6A6\$6hr_ |àVr6g6h,
 (\\$a EH\$ A6\$ _ |AH\$-a & EH\$_m6 N6OZr6H\$ H6 g^r A6\$6hr_ |Zm H\$ {edan6
 Cn6rWV h; (Zr6 H\$mVr6n6oZr6H\$ _ |h; hr Zht)& Vrgao AnZoàW_ Zr6H\$
 g\$ r6JVr6 _ |dH6 ml6r` Ogoà(ei >Zr6H\$H\$mAZ6gaU H\$aVohc6 n6dran6 H\$
 àW_ {hfr B6ANZr6H6 nar Ar6 Z_ 6` | {dX6H\$ H6 n6r6H\$mZm_ m6 H\$mEH\$ hr
 A6\$ _ |Cn6rWV {H\$ mh; na Egm6r6H\$ Aàng6JH\$VmEd6AZ6r6 | H\$VmC6YhrZo
 V6YV naI br Ar6 -n6 H6 X6r6Zr6Zr6H\$6n6 |EgmEH\$ ^r n6 Zr6H\$ _ |Cn6rW6r6V
 Zht {H\$ m{OgH\$ Zr6H\$ H6 gm_ {JH\$ g6dYr6 _ |A(Zdm 6mZ hr6 A6r6?
 _pe6\$6Or à(ei >g6HV Zr6H\$ H6 àn6\$6 H\$mAZ6gaU V6H\$aVohc6 na ` h
 JVr6Z6(VH\$ Zht, An6r6 H\$Vm6n6S6ona doBg_ |` W6r6V n[adV6 ^r H\$aVohc&

na BZH6 Zr6H\$H\$ à_ 6` {de6Vmh; BZ_ |Am6 dh6 en6r` -6Xer6dn6o
 JrV & ^ng- H\$66X6ng6r6 H6 à(ei >g6HV Zr6H\$hr_ |Bg àH\$6 H6 J6 n6 Zht
 hr6Vohc& BZ_ |er6V6b H\$6 àn6V6Z6AW6dm6g6n{XH\$mH6 àg6 Ogo6W6Z6na
 JrZ V6hr6V6hr W6 {dH6 ml6r` H\$m6V6W6r6H\$ V6H\$X6r6MV6g6r6VZr66 Ogm6r
 ahm6r6 na dh6^r Jm6 mOn6Z6dn6m6n6 V6dhr na6am6V N6YXg n6 W6 ^bo
 dh_ m66pH\$ hr6 -rgdr6eVr H6 _ 6` ^m6 _ |_ 6` B6Ogo_ hrZ Ja_ |^n6d6H\$a
 An6U _ \$6br O- H\$66X6ng6r6 H6 Zr6H\$6H\$m66Z H\$aVr Wr V- do^r B6Yht
 N6YXg n6r6H\$6hr en6r` am6r6H\$6 -p6Yer6_ |T66H\$a Jr6Vohc& H\$X6r6MV6
 m66pH\$ Am6 r6 Jr{V OgoN6r6H\$6am6 -6 H\$aZo |gabV6m6r hr6 & na
 ndV6 6\$6 goY6n6X Ar6 X6- VrZ A6V6m- dn6oJm6 Z H6 hr hr6V6o6m6o_ 66
 n6r6H\$m6MbZ Zht W6& Bg àH\$6 H6 J6 n6r6 |hr {Z-66 gd6W_ (Cnb6Y)
 aMZ6H\$X6r6MV6 JrV JradYX hr h; & CgH6 gm6 hr àn6{eH\$ ^rfmAr6_ |^r ndV6

H\$6n` àH\$6 H6 6\$6n_ |H6db J6 j_ V6dn6bo6ndV6 nX6r- JrVr6H\$6 na6ame6\$ hr6
 JB6r6 & J6darVr- {hYXr H6 nX Ar6 -6r6 H6 -n6b V6m_ hr6m6 >H\$6 br6Ur
 Bgr na6am6H\$m6{Z6e H\$aVohc&na Zr6H\$hr_ |JrVr6H\$6ng6 n6Z Ad6r6Z H\$6b_ |
 OY_ r gd6Z i` n6gr6 H\$a6\$ ^6_ H\$6 XZ h; & 1850 H6 Ang6ng6 OmZ6An6{eH\$
 a6\$ ^6_ An6HV hr6m6r Wr Cg_ |JrV bJ^J A(Zdm 6\$6n gog_ r6di >hr6J` dVohc
 -rgdr eVrH6 àW_ MaU H\$6 J6darVr- hr6m6 6` a6\$ ^6_ H6 Zr6H\$hr_ |JrV Ad6r6
 hr6Vohc& J6darV H6 {Ubr6 Z^6r6 Ogoà(ei >gr6E` H\$6n Zog6HV Zr6H\$hr
 H6 J6darVr_ |AZ6r6 H\$aVohc6 g_ H\$6brZ J6darVr i` n6gr6 H\$a6\$ ^6_ H\$6 Bg
 br6j {UH\$VmH\$6n6 nZ_ |aI Vohc6 H6V>N66K6 n6r6H\$m6br6Ur OgoJ6 n6r6_ |
 ^n6r6Z6r6 ^r {H\$ m6W6r6 (& Ubr6 H6 AZ6r6 ^r d6S6A6m6n6` engZ H6 An6
 _ |H\$6m6 6` dVohc6 Bg n6r6^6_ H\$6n_ |O- _pe6\$6Or g6HV Zr6H\$ {bI Vohc
 V6r6Z_ |J6 n6r6H\$m6hr6Z6AH\$6n6^2 Zht bJVr6 g6HV Zr6H\$6H\$m6n6r6{aH\$
 nd6\$6n aI Vohc6 ^r BZ_ |J6 n6r6H\$m6n6Z6Z6g6` g_ H\$6brZ àn6{eH\$a6\$ _ 6`
 H6 à^nd6 |h6Amh; & Zr6eH\$6n6 en6r` g6rV H6 ^r _ R W6& BggoBZ JrVr6_ |
 àg6 -n6W6-H\$6b H6 An6M6` H\$6ng6j U h6Amh; en6r` am6r6Ar6 V6r6H\$m6r
 n` 66 d6d6` à` 66 h6Amh6

{X,,r hr6r6VH\$6b go^raV H\$6n6_ 6` an6H\$6` H6V6 ah6r6; Ar6 n6dran6
 {X,,r H\$m6A6\$ _ {hYXyeng6H\$W6m6& 1192 _ |_ 6` h6 X Kn6r Z6n6dran6 H\$m6n6r6OV
 H\$aH6 ^raV _ |_ n6br_ engZ H\$6 Ztd S6br & AH\$-a H6 engZ _ |am6 ...g6j6
 ^raV _ |_ 6` b6 gm6 6` \66 J` m6W6r6 (\\$a ^r EH\$6 m6 _ dn6>H6 hr6n6J6m6V6r6
 Bg ` dZ engZ H6 An6r6Z Zht h6, Ar6 dn6>an6r6n6Z H6 _ 6` _ |W6 AH\$-a
 H6 engZ H\$6 N6r6 na, CgH\$6 gm6 6` H6 6X` n6W6r6 na & Ar6P6- H6 engZ _ |
 {hYXygm6 6` H\$6 n6W6r6Z6H\$m6Om6A6\$ _ à- b à` ng6 h6Am6h {edn6r H\$m6W6r6
 CgH6 -n6 -h6 A6n g_ _ |{-66 gm6 6` ^raV _ |_ 6` J` m6W6r6 _pe6\$6Or
 ZoVrZ hr Zr6H\$ {bI ZoH\$6` n6Z6m6-Zr66r6 Ar6 BZ VrZ Zr6H\$6H6 Zm6 H\$6 Wo
 n6dran6, àVr6g6h Ar6 {edan6 & ^raV H\$6n6J6m6 -Zr6dn6o` dZ engZ H6
 Ar6\$, gm6U Ar6 A6V H\$6b H6` dVrZ6r6dn6\$` à6r {hYXygm6 n6W6 Ar6 BZ VrZ6
 H6 OrdZ H\$6n6Z6e6\$6n_ |àn6V H\$aZ6H\$m6B6Yhr6Z6Z6` {H\$ m6W6r6 {hYXy6e66
 Ar6 nd6r6Y6` H\$6 Egr Jhar P6 Zm6H6 gm6 B6Yhr6ZoX6Ar6 -n6r6H\$6n6 nZ_ |
 aI m6W6r6 EH\$6 V6r VrZ6H6 OrdZ H6 Om6\$6 br6H\$6n6Z6m6_ |gd6r6H\$6 àM6bV Wo

CYht H\$AnZr aMznArh | COmla H\$ZoH\$ma` ng CYhrZo(H\$ n&n'dranO H0
 OrdZ H\$mgdrPH\$ brnH\$H\$F\$ a\$ h; CgH\$ g\$ nJVmH\$ aU` H\$WmH\$&
 brnH\$a(g(O h;H\$ AbrH\$H\$ gXar g\$ nJVmH0 aU` H0 {b` oCgZolU de |
 OnH\$a Cgo^aoid` \$la goCgH0 {nVmH0 Xd VoXd VohaU H\$a boOnZoH\$mgmg
 (H\$ mArp {H\$a CgH0 ao | BVZmSy- J` m(H\$ Kmnr ZoBgH\$m\m XmCRm m!
 aVm AnZondnV\$` ao H0 H\$naU O\$brh | ^OH\$Vmahm \ \$b_ b I rh\$a {O` m
 na AH\$-a H\$ aM\$>VmH\$V H0 gm ZoPH\$mZht&{ednOr Zo`r nAmOrdZ ` dZrH0
 aM\$>X-nl H0 gm Z(ZaYVa gKf(H\$ m g0_fH\$H\$m(-eX nm m Arp Arp Pe
 OgoY` mY ` dZengH\$H\$ H\$X go`r\$ hml\$a {hYXyY`_engZ H\$ nWmZmH\$ &
 BYht VrZ a\$rhH\$m _peH\$aOr ZoAnZoZrH\$H\$ | Anbd Z H\$aZoH\$mg\$ b
 a` ng {H\$ n& Xyga0 gH\$V ZrH\$H\$ na\$amH\$maj U H\$aVohf CYhrZoVrZr
 ZrH\$H\$mgU nV ~ZnZmH\$m&Bg hVvgCYhrZoVrZrH\$VrZrH\$ | goZr0aMzm
 H0 {b` odhr A& JkU (H\$ oOmCEgd | n[aUV hmogH0 & g\$ nJVr0 | CYhrZo
 XnrZr0` rH0 {ddrnmgd VH\$ H\$mrnd` g\$U`H\$Vr0 {b` m eF A(a` A& H\$0
 Nn0>{X` m(EH\$V ~ra CgH\$mH0N>{ZX}e ^a H\$a {X` m); NAOZrH\$ | Y`_am`
 H\$ nWmZmH0 {Zu` goAra\$ H\$a gm` m` r^fH\$ H0 CEgd | Cg {Zu` H\$
 (g(O goZr0ednVH\$mrnU`H\$ m aVr0 | ^r` nZqgh H0 An`nZ gogKf(H\$m
 ~rO S`bH\$a nroZrH\$ | Zm H\$ H\$mgKf`Ze\$`nV H\$aVohf AY | gKf(H\$
 g\$Vr0\$nr aVrmogh H0 CX` n0 na {dO` H0` CEgd | g`mZ (H\$ m&VrZr
 ZrH\$H\$ {ddrnmgd ` mgm` m` r^fH\$H\$gd ` m(dO` r0gd`_gU` nV g`rV hml0
 h0&VrZr | CYhrZo(hYXyY`_H\$m {hYXyYgH\$V H0`_e` rH\$mArp {hYXyZr0na\$am
 H\$mJrpd {H\$ mh}&

h J0anV H\$m BZ ZrH\$H\$m` mH\$XrMV^2gH\$V a\$ _M H\$mXnr0
 ahm(H\$ _Mzj _Vmnr _m`m | hml0h` ^r BZ ZrH\$H\$mH\$ht _Mz Zht hro
 nm n&Cg d\$V gH\$V ZrH\$H\$ _Mz H\$ na\$amH\$XrMV^2nro^raV | H\$ht Zht
 Wr & dV`nZ H\$0b | gH\$V H0 CEWrZ H0 grnV gH\$V ZrH\$H\$H0 H0N>ang\$JH\$

_Mz eH\$hf h0&na AY` anX(eH\$ ^nraArH0 Ogoi` n0gr0 H\$-ndpANH\$ (^ m
 AdWZ) a\$ _M h; dgmogH\$V H\$mZht & AV..BZ ZrH\$0 | Om _Mzj _Vmahr
 h; CgH\$mVmBZ ZrH\$H\$ - {deF VmV`OZrH\$H\$ - _Mz a` n0mgdr g\$kmZ
 hmogH0Jr0

Om`rhm`_peH\$aOrH0BZ ZrH\$H\$ a(ei`_VmEd\$g`_H\$brZ anVWVm
 AnO`^rdgrhr aE` J0h&BZH\$ anOb, a(ei`>Arp`_hmla&ra gH\$V Zr0e`nra
 Aa`ngnU`^Ed\$Zr0e`n`_H\$ K0ZrM` Z, gOrd g\$nrn` | CKS`Vmd(dU` nU`
 nr0g`_h, H0eb Zr0e`gdYrZ Ed\$anMrZ H\$VmlnVw | ^r g`_H\$brZ gr0VWmH\$m
 XeZ AnO`^r BZ ZrH\$H\$H\$mCnrK0 ~ZnVch0&BZH\$aMzmH0 An0>XeH\$ ~nX
 AnO`^r`^CVZchr Zr0e`n`_H\$Ed\$graaV aVrV hml0ch0` hr BZH\$ gOrdVmEd\$
 a(ei`_VmH\$mUnVH\$ h0&

* १५७६ में हल्दीघाट का युद्ध हारकर प्रताप भाग निकला पर उसके बाद भी “he continued the war with undaunted spirit and energy and had the satisfaction of recovering many of his strongholds before he died on the 19th January, 1597, at the age of fifty-seven.” (Majumdar R.C.etc. *An Advanced History of India*, 1967, Macmillan, p. 444)

मनीषा अहमदाबाद में हैं । कनिष्ठ पुत्री मुद्रिकाबहन अहमदाबाद में एवं एक दौहित्र कैवल्य वडोदरा में रहते हैं ।

संपत्ति के अभाव से मूलशंकर जी का साथ प्रायः आजीवन बना रहा । दोनों पत्नियों ने भी जल्दी ही साथ छोड़ दिया । तीनों पुत्र नहीं रहे । सबसे छोटा पीलु (यह नाम भी उन्होंने अपने प्रिय राग से रखा था।) तो आठ वर्ष की वय में ही चल बसा था। इन सभी आपत्तियों को इन्होंने बड़े धैर्य से झेला । इसमें उनकी धर्मशीलता से, उनके आध्यात्मिक झुकाव से बड़ा सहारा मिला । धर्मप्रवण तो वे थे ही, १९१४ में इन्होंने जगद्गुरु श्री शंकराचार्यजी से श्रीविद्या की दीक्षा प्राप्त की और शिनोर में नर्मदा के जल में खड़े रहकर गायत्री मंत्र के तीन लाख जप का पुरश्चरण किया । इसी धार्मिकता ने आचार्य को जीवन के अभावों में भी संतोष और एकाकी अंतिम वर्षों में शान्ति और धैर्य प्रदान किया ।

अपनी मातृभाषा गुजराती में मूलशंकरजी ने पर्याप्त लेखन किया है । *सत्यधर्मप्रकाश* (१९१२) में उन्होंने श्रुति-स्मृति-वचनों का अपनी टीका के साथ संग्रह किया है । प्राच्यविद्या मंदिर, वडोदरा की सयाजी वाचनमाला श्रेणी में उन्होंने *तुलनात्मक धर्मविचार* और *आपणी प्राचीन शासनपद्धति* नामक दो पुस्तिकाएँ लिखीं । *सूर्य-चन्द्रवंशी राजाओं की वंशावली* तथा *जम्बूद्वीप अने सप्तद्वीपना नकशाओ* (१९३०) (-के मानचित्र) जैसे ग्रंथों की रचना की । *नैषधचरित* और *महात्मा गांधी : जीवनचरित* भी लिखे । *विजयालहरी* (१९१६) गीतिकाव्य और *मेवाडप्रतिष्ठा, नरसिंहनिनाद* एवं *हर्षदिविजय* नाटक लिखे । संस्कृत में भी पं० गोपालाचार्य उल्गीकर के साथ *विष्णुपुराण* की *कथाओं को (१९१७) सरल गद्य में प्रस्तुत किया, पं० बदरीनाथ शास्त्रीजी तर्कपंचानन के साथ *सप्तर्षिदृष्टवेदसर्वस्वम्* नामक भाष्यग्रंथ का प्रणयन किया । पर १९२६-१९३१ के पंचवर्षीय लघु कालखण्ड में उन्होंने जिन तीन नाट्यग्रंथों- *संयोगितास्वयंवरम्* (१९२८), *छत्रपतिसाम्राज्यम्* (१९२९) और *प्रतापविजयम्* (१९३१) - की रचना की उन तीन नाटकों ने मूलशंकरजी को कालजयी यश प्रदान किया ।

१९२५-२६ के आसपास भारत का स्वातंत्र्यसंग्रह प्रबल होने लगा था तब

* वास्तव में, १९१५ में प्राचार्य-पदासीन होने पर उन्होंने पंडितजी के साथ प्रत्येक पुराण में वर्णित कथाओं के गद्यपुनर्लेखन की एक पुस्तकश्रेणी पुराणकथातरङ्गिणी की योजना बनाई थी । पर विष्णुपुराण की कथाओं का प्रथम ग्रंथ प्रकाशित होने के पूर्व ही पंडितजी का अचानक निधन हो गया और श्रेणी प्रथम ग्रंथ से आगे न बढ़ पाई ।

आ० मूलशंकर माणेकलाल याज्ञिक

श्री याज्ञिकजी का जन्म सा.सं.१८८६ में ३१ जनवरी के दिन मध्य गुजरात के नडियाद (सं. नटपुर) नगर वास्तव्य वडनगरा नागर ब्राह्मण पिता श्री माणेकलाल उमियाशंकर याज्ञिक के घर माता अतिलक्ष्मी की कोख से हुआ । इनकी प्रारम्भिक एवं शालेय शिक्षा नडियाद में हुई । फिर एक वर्ष जूनागढ की बहाउद्दीन कोलेज में पढने के बाद इन्होंने वडोदरा की प्रसिद्ध बडौदा कोलेज में उच्च शिक्षा प्राप्त की । उस वक्त वहां श्री अरविन्द (बाद में महर्षि अरविन्द) भी अंग्रेजी के प्राध्यापक एवं प्राचार्य थे । १९०७ में स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के उपरांत उन्हें कौटुम्बिक कारणवश मुंबई की स्पीसी बैंक में नौकरी प्रारम्भ करनी पड़ी, पर बडौदा राज्य के गुणज्ञ महाराजा सयाजिराव (तीसरे)ने उनकी विद्वत्ता से आकृष्ट हो कर उन्हें बडौदा के शिक्षा विभाग में निमन्त्रित किया तो वे १९१४ में वडोदरा आये और १९१५ में नवप्रारंभित शासकीय संस्कृत पाठशाला के प्रथम प्राचार्य के रूप में नियुक्त हो गये । इस पद पर १७ वर्ष रहकर १९३२ में वे मेहसाणा (उत्तर गुजरात) की शाला के शिक्षक बनकर गये और १९४२ में वहां से सेवानिवृत्त हुए । (उन दिनों निवृत्तिवय ५५ वर्ष की थी ।) निवृत्ति के उपरान्त भी वे एस्.एन्.डी.टी. महिला कोलेज की कन्याओं को संस्कृत साहित्य पढाते रहे । शेष जीवन नडियाद में बीताते हुए उन्होंने १३ नवम्बर १९६५ को अपनी जीवनलीला समाप्त की ।

मूलशंकरजी का प्रथम विवाह उनकी १३ वर्ष की आयु में श्रीमती महाविद्या के साथ हुआ । इस वैवाहिक जीवन में इनके तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ हुई, तीनों पुत्र अल्प आयु में ही चल बसे । प्रथम पत्नी के अवसानोपरान्त ३५ की आयु में इनका दूसरा विवाह श्रीमती वीरेन्द्रबाला के साथ हुआ । इस विवाह से इनके तीन पुत्रियाँ प्राप्त हुई । वीरेन्द्रबाला का भी १९४५ में गले के कैंसर से निधन हुआ तो वे स्वयं पांचों पुत्रियों की माता बन गये । मृत्यु के समय ये पांचों पुत्रियाँ (सुमति, मधु, अरविन्दा, सुवर्णा एवं मुद्रिका) जीवित थीं । इस समय अरविन्दाबहन अमरिका में और दौहित्री

नाट्यरचना के लिये भारत के इतिहासप्रसिद्ध इन तीन वीर नायकों का वरण करते हुए उन्होंने यह भी विचार कर लिया था कि दो नाटक वीररसप्रधान होंगे और एक प्रणयनाटक होगा । (कदाचित् मन की गहन गुहा में कहीं भवभूति के सृजन-क्रम का अनुसरण रहा हो!) उन्होंने *प्रतापविजयम्* को सर्वप्रथम पूरा लिख भी डाला था । पर तभी गौरीशंकर ओझा का राणा प्रताप के जीवन पर महत्त्वपूर्ण संशोधनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुआ और मूलशंकरजी ने इस ग्रंथ के प्रकाश में अपने लिखे हुए नाटक में उचित और पूर्ण संशोधन करके पुनर्लेखन करने का निर्णय किया, और दूसरा प्रणयनाटक *संयोगिता* रचकर उसे प्रथम प्रकाशित किया, फिर *छत्रनाटक* भी आया और *प्रताप* का प्रकाशन पर्याप्त संशोधन के बाद सबसे अंत में हुआ । तब तक मूलशंकरजी की प्रतिष्ठा देशविदेश में ईर्ष्याप्रेरक मात्रा में फैल चुकी थी । संशोधन के बाद भी *प्रताप* के प्रकाशन में एक वर्ष का अन्तराल पड़ गया । इस बीच उन्होंने दो और ग्रन्थों की रचना की (या उन्हें करनी पड़ी) । *प्रताप* की प्रस्तावना में उन्होंने महाराजा सयाजीराव के उपरान्त मेवार के तत्कालीन महाराजा भूपालसिंहजी के रुचि एवं सहाय का भी साभार स्पष्ट निर्देश किया है । पहले दो नाटकों के विषय में कई विद्वानों की सम्मतियाँ *छत्रनाटक* में छपी हैं, वैसा कुछ *प्रताप* के बारे में नहीं हुआ । सबसे बड़ी आश्चर्य की बात यह है कि *प्रताप* के प्रकाशन के एक ही वर्ष बाद मूलशंकरजी को राजकीय पाठशाला का प्राचार्यपद छोड़कर मेहसाणा की एक शाला में आसि० टीचर की नियुक्ति स्वीकार करनी पड़ी जहां वे अपने कार्यकाल के अंतिम दस वर्ष रहे । यह घटनाक्रम कैसे हुआ और क्यों हुआ, इसका कोई जवाब हमें कभी मिलनेवाला नहीं है।

मूलशंकरजी के ग्रन्थशीर्षकों से ही उनके वेद-वेदाङ्ग-पुराण-धर्मशास्त्र-साहित्य-अर्थशास्त्र इत्यादि शास्त्रों के ज्ञान का निर्देश होता है । आयुर्वेद के भी वे बहुत अच्छे ज्ञाता थे । संगीतशास्त्र और अर्थशास्त्र के उनके ज्ञान का साक्ष्य तो उनके नाटकों से ही मिलता है । संगीत के वे मर्मज्ञ थे, स्वयं सितार भी बजाते थे और पं० ओम्कारनाथजी के बड़े भक्त थे । ज्योतिष पर इनका इतना प्रभुत्व था कि, कहते हैं कि, अपने मृत्यु का दिन-समय उन्होंने बहुत पहले से अपनी जन्मपत्रिका में लिख लिया था । बरोडा कालेज में वे श्री अरविन्द के छात्र रहे । अन्यत्र उन्होंने स्वयं वेदालंकार पंडित नागप्पाजी का गुरुऋण स्वीकार किया है । पं० गोपालाचार्यजी एवं पं० बदरीनाथ जैसे धुरंधर विद्वानों ने ग्रन्थालेखन में उनका साथ दिया । बदरीनाथजी ने इनके तीनों संस्कृत नाटकों का आंग्लानुवाद भी किया । पं० श्रीधर शास्त्रीजी ने इनके तीनों नाटकों पर

टीकाओं का प्रणयन भी किया । अपनी विद्वत्ता से मूलशंकरजीने अपने सभी विद्वान् सहकार्यकों का आदर और सहकार प्राप्त किया था । केवल वडोदरा या गुजरात में नहीं, पूरे देश में इनकी विद्वत्ता एवं लेखनी का समादर होता था । इनके संस्कृत नाटकों की सृजनशीलता ने इन्हें वाराणसी की विद्वत् संसद् की मानार्ह उपाधि **साहित्यमणि** अर्जित कराई थी ।

टीकाकार पं. श्रीधर लक्ष्मण शास्त्री

आचार्य मूलशंकरजी के तीनों संस्कृत नाटकों पर टीकाओं का प्रणयन करने वाले उनके सहाध्यापक वे.शा.सं.पं० श्रीधर लक्ष्मण शास्त्री भी साहित्य, व्याकरण, न्याय, वेदान्त, ज्योतिष, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, संगीत, वेद, याज्ञिकी इत्यादि अनेक शास्त्रों के विद्वान् थे । वडोदरा के महाराजा ने गांव पोहे (ता. कोपरगांव, जिला नगर, महाराष्ट्र) से बुलाकर इनके विद्वान् पितामह पं० त्र्यंबक शास्त्री पदे (=वेदों के पदपाठके ज्ञाता) को संमानपूर्वक वडोदरा में बसाया था । पं० श्रीधरजी को शारदापीठ शंकराचार्य ने **वैयाकरण केसरी** एवं अ.भा. आयुर्वेद विद्यापीठ ने **वैद्यपंचानन** उपाधिओं से विभूषित किया था । वे पाठशाला में व्याकरण के एवं संगीतशाला में संगीत के भी अध्यापक थे । अनुशासन के आग्रही थे और ब्राह्मण षट्कर्म एवं नित्यपूजा-यज्ञ-अध्ययनादिके दृढ पालक थे । पांच पीढी से उनका वैदुष्य प्रतिष्ठित रहा है । (प्राच्यविद्यामन्दिर के वर्तमान नियामक डॉ. मुकुन्द वाडेकर इनके दौहित्र हैं ।)

उन दिनों प्रसिद्ध संगीतकार पंडित विष्णु नारायण भातखंडे द्वारा संगीतशास्त्र का छात्रोपयोगी ग्रंथ **श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्** रचा गया था । पदेशास्त्रीजी भी अपने संगीत के अध्यापन में इसका प्रयोग करते थे । मूलशंकरजी के तीनों नाटकों में गीतों के रागों के लक्षण टीकाकार ने इसी ग्रंथ से उद्धृत किये हैं ।

यहां उनकी टीकाओं से केवल पर्यायात्मक अंशों को दूर करके छंद-अलंकार-संधि-सन्ध्यङ्ग-प्रसङ्गनिर्देश-शास्त्रोद्धरण इत्यादि अंशों को पुनर्मुद्रित किया गया है ।

From Author's Introductions

...in the Sanskrit drama there is no scope for the tragedy... Long journeys, massacres and actual fights are never to be exhibited on the stage. The death of the hero should not even be indicated...

Keeping all these points in view, I have composed this love-play, the plot of which is ... as depicted by Shriyuta Shripada Shastri in his series, *Bharata-Vira-ratna-mala*. ...

On reading the series, I was induced to write three plays, two heroic ones, displaying the exploits of Pratapa and Shivaji, and the third a love-play, describing the love-intrigues of Pruthviraja. The heroic play of *Pratapavijaya* was first taken in hand and was finished in 1926, but its publication had to be postponed.

- from Author's Introduction to *Samyogitasvayamvaram*.

... this heroic play, the plot of which is based on the history of the reign of Shivaji, from 1646 to 1674 the date of his coronation, as given in the following books :-

Grant Duff's "*History of the Marathas*"

Sardesai's "*Marathi Riasat*"

Macmillan's "*In Wild Maratha Battle*"

Shripad Shastri's "*Chhatrapati Shivaji Maharaja*"

Mankar's "*Life and Exploits of Shivaji*"

.....

The researches of Mahamahopadhyaya R. B. Gaurishankar H. Oza have thrown new light on the history of the reign of Maharana Shri Pratapasinha. So the publication of the play will have to be postponed till its thorough revision.

- from Author's Introduction to *Chhatrapatisamrajyam*

* * *

[The sources of *Pratapavijayam*:-

1. *Vira-Shiromani Maharana Pratapasimha*-
Mm. R. B. Gaurishankar H. Oza
2. *Shri-Maharana-Pratapasimha-carita*
Shripad Shastri
3. *Ain-e-Akbari*
4. *Memoirs of Jehangir*]

SOME OPINIONS
Samyogitaswayamvaram

...Permit me to congratulate you on the melodiousness and easy grace of your Sanskrit; and also on the choice of a historical subject.

***Mm. Pt. Ganganath Jha, M.A., D.Litt., Vice-Chancellor,
Allahabad University, Allahabad.***

...competent scholars like you maintaining the classical tradition.

Dr. L. D. Barnett, M.A., Ph.D., British Museum, London

...Some very pleasant hours of reading... your kavita and Sanskrit style... are not a mere imitation of ancient models but have something original and personal.

Dr. Hermann Jacobi, Hamburg, Germany

...In the conception of a historical plot, in the charm of diction, in the description of events so as to be full of dramatic interest, in the dignity and suggestiveness of style and in the skilful observance of rules of dramaturgy, you have achieved a commendable success. Your poetical skill is admirable.

***Dr. R. Shamshatri, Curator, Government Oriental Library,
Mysore***

It contains much felicity of expression and elegance of diction and is an interesting revival of the most attractive branch of Sanskrit literature.

Prof. A. B. Keith, University of Edinburgh

It is interesting to see how the Sanskrit Play is still living in Bharatvarsha. This intimate interest in the past is a great asset in the national life of the nation.

Dr. Sten Konow, Acta Orientalia, Oslo, Norway

I have admired your artistic taste and your rare ability in writing in Sanskrit.

Signor Guiseppe Tucci, Shrinagar, Kashmir

Such works of literature ...are still being produced in Sanskrit; it is a healthy sign of Sanskrit studies.

Prof. Franklin Edgerton, Yale University, America

Chatrapatisamrajyam

...You handle the Vaidarbhi riti with much skill, and the play is very agreeable reading.

Dr. L. D. Barnett, M.A., Ph.D., British Museum, London

I value your learned and Patriotic composition very highly.

Professor Jolly, Wurzburg, Germany

...You have admirably succeeded in dramatising the life of the great Shivaji and his heroic activities. Your verses are elegant, sweet and eloquent, and the dialogues are all charming. The ten incidents apparently disconnected with each other lead to the crowning of Shivajee and thus supply the unity of theme.

***Dr. R. Shamashastri, R. Curator and Director of Archaeology,
Mysore***

Chatrapatisamrajyam, I have read with great interest, as a good Nataka and as an interesting document to the vitality of the Sanskrit drama.

Dr. Sten Konow, Acta Orientalia, Oslo, Norway

...There is possibly even more skilful management of incidents, and there is the same mastery of Kavya style.

Prof. Louis Le La Vallee Poussin, Brussels, Belgium

Excellent reading, a worthy successor to the Samyogitasvayamvara... how perfectly you feel at home in that difficult Brahmi Vac, and your works are in no way inferior, as far as I can judge, to those of our honoured classical poets and dramatists.

***Dr. N. S. Sukthankar, Bhandarkar Oriental Reserach Institute,
Poona***

मूलशङ्कर-नाट्यत्रयी

संयोगितास्वयंवरम्
छत्रपतिसाम्राज्यम्
प्रतापविजयम्

सम्पादकः

राजेन्द्रः नाणावटी